AK 8-2

पर्यावरण के नाम पर

दै. जनसत्ता, नई दिल्ली
1-1-97

आशीष कोठारी

पर्यावरणवाद के बदनुमा पक्ष ने अपना सिर उठाना फिर शुरू किया है। पिछले दो वर्षों और खासतौर से १९९६ के दौरान पर्यावरण के मामले में ऐसी ढेरों कार्रवाइयां हुई हैं जिन्हें पहली निगाह में तो सराहने की इच्छा होती है लेकिन उनके निहितार्थ कई मायनों में गंभीर चिंताएं पैदा करते हैं। यदि पर्यावरण आंदोलन ने इन बारीकियों को जल्द समझ कर तत्काल उनसे निपटने का प्रयास नहीं किया तो वह अपनी वह गति और विश्वसनीयता खो बैठेगा जो उसने बीते बरसों में अर्जित की है।

औद्योगिक देशों के विपरीत भारत जैसे देशों में प्राकृतिक पर्यावरण न केवल उसके सौंदर्य बोधीय और मनोरंजन, ताजा हवा, जलवायु- नियमन जैसे परोक्ष लाभों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि वह करोड़ों देशवासियों के जीवन का तो आधार ही है। ये वे लोग हैं जो यहां की भूमि, वनों, जल-क्षेत्रों, वन्य-जीवन और अन्य प्राकृतिक स्रोतों के जरिए अपनी रोज की आजीविका कमाते हैं। जहां प्रकृति का खुद उसी की खातिर संरक्षण करना हमारी नैतिक व कानूनी जिम्मेदारी है, वहीं उसके संरक्षण के प्रयासों के चलते हमें गरीबों की आजीविका और अस्तित्व संबंधी जरूरतों का भी ख्याल रखना होगा। माना कि शहरी श्रेष्ठी वर्ग की सौंदर्यबोध और मनोरंजन संबंधी जरूरतें भी वाजिब हैं, फिर भी उन्हें गरीबों के अधिकारों की कीमत पर पूरा नहीं किया जाना चाहिए। दुर्भाग्यवश, हाल ही उठाए गए बहुत से कदमों से ठीक यही हुआ है।

मिसाल के लिए, कुछ उत्साही वकीलों, खासतौर से एमसी वर्मा की प्रेरणा पर उच्चतम न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता प्रदर्शित करते हुए जो कुछ फैसले दिए हैं उनका प्रभाव बहुत व्यापक और दूरगामी होगा। दिल्ली के कोई १५०० प्रदूषण-फैलाने वाले उद्योगों को बंद करने और दिल्ली 'रिज आरक्षित-वन' से सारे अतिक्रमणों को उखाड़ फेंकने के आदेश इसके ही उदाहरण हैं। पर्यावरण संगठन कल्पवृक्ष, जिसने कि आज से सत्रह वर्ष पूर्व दिल्ली रिज को अतिक्रमण से बचाने का बीड़ा उठाया था, के एक सदस्य को हैसियत से मैं न्यायमूर्ति कुलदीपसिंह के इन फैसलों की तारीफ करता हूं लेकिन ऐसा करते हुए मुझे यह सोच कर थोड़ा संकोच भी होता है कि क्या हमने यह भी सोचा है कि महानगर की आबादी के उन वर्गों पर इन फैसलों का असर क्या होगा जो इन आदेशों के कारण पीड़ित हुए हैं?

प्रदूषणकारी उद्योगों में सरकारी आंकड़ों के मुताबिक कोई १५,००० मजदूर काम करते हैं। अनधिकृत जानकारी के अनुसार उनकी संख्या इससे दुगनी है। अदालत के आदेश में तो कहा गया है कि इन कामगारों को उक्त कारखानों द्वारा उनकी नई जगहों पर फिर से काम पर रखा जाएगा लेकिन बहुत सी कंपनियां तो अपना कारोबार बंद ही कर रही हैं। कामगारों को जो नकद मुआवजा मिलेगा वह रोजगार का स्थानापन्न तो हो नहीं सकता। कामगारों के भविष्य के प्रति दिखलाई गई इस निष्ठुरता को लेकर मजदूर संघों की नाराजगी जहां वाजिब है वहीं मेरे जैसे पर्यावरणवादी इससे विचलित नजर आ रहे हैं।

दिल्ली रिज क्षेत्र से हड़काए जाने वाले ग्रामीणों और झोपड़पट्टी वालों की संख्या भी हजारों में है। यह सब होगा यह तो पता ही था लेकिन इस तस्वीर की सबसे बड़ी विरूपता यह है कि इस वन-क्षेत्र को सबसे ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाली निजी और सरकारी एजेंसियों, जिनमें सशस्त्र सेनाएं भी हैं, को इन कार्रवाइयों में छुआ भी नहीं गया है जबकि गरीब 'अतिक्रामकों' को बेदखल किया जा रहा है। 'रिज' को अतिक्रमण मुक्त करने की जिम्मेदारी अदालत ने दिल्ली विकास प्राधिकरण (डीडीए) जैसी जिन एजेंसियों को सौंपी है वे भी इस मामले में थोड़ा कानूनी व थोड़ा श्रेष्ठीवर्गीय रवैया अपना रही हैं। चूंकि तंग बस्तियों वालों को कोई कानूनी अधिकार नहीं है, उन्हें तो तुरत-फुरत बेदखल किया ही जा रहा है, उन गांवों, जिन्हें पूर्व में पंचायत का हिस्सा घोषित कर राशन-कार्ड जारी किए गए थे, तक को अचानक यह कहते हुए अतिक्रामक कह दिया गया है कि सरकारी कागजात में उनके कोई भूमि-अधिकार दर्ज नहीं हैं। और श्रेष्ठीवर्ग के ठाठों की तो कोई सीमा है ही नहीं। 'रिज फॉरेस्ट' से लगे असरदार लोगों के आलीशान 'फार्म हाउसों' को 'रिजर्व फॉरेस्ट' से बाहर दर्शा कर बने रहने की इजाजत दे दी गई है।

दिल्ली का यह उदाहरण कोई अकेला नहीं है बल्कि वह उस बीमारी का स्पष्ट लक्षण है जिसकी जड़ें शहरी और श्रेष्ठीवर्गीय पर्यावरणवाद में गहरी पैठी हुई हैं। सदियों पहले भारत के राजा-महाराजाओं ने अकेले अपने उपयोग के लिए शिकारगाह तय कर लिए थे। बीसवीं सदी में वन्य-जीवन संरक्षण सरोकारों के कारण संरक्षित क्षेत्रों का जाल बिछा दिया गया है। भारत में कोई ५२१ राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों को मदद से देश के बचे-खुचे प्राकृतिक-रहवासों और वन्य-जीवन को बचाने के प्रयास किए जा रहे हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि इन्हीं इलाकों में कई ऐसे परंपरागत आदिवासी और ग्रामीण समुदाय भी बसते हैं जो अब लुप्तमान हैं और उनको बचाना भी उतना ही जरूरी है। बदकिस्मती से शहरों से संरक्षण के मामले में सख्ती बरतने को जो मांग उठती है उसके परिणामस्वरूप हजारों लोगों को जबरन बेदखल किया गया है और गरीबों की उनके द्वारा उपयोग किए जाने वाले ईंधन, दाना-चारा और आजीविका के साधनों तक पहुंच में कतरब्यौंत हुई है। इन सख्तियों का निशाना राजाजी राष्ट्रीय उद्यान में खानाबदोश गुज्जरों और रस्सी बटने वालों को बनाया गया तो गिर वनों में पशुपालक मालधारियों को निकाल बाहर कर दिया गया है। केवलादेव (भरतपुर) राष्ट्रीय उद्यान में चरवाहों को अब उनकी भैंसें भीतर लाने की इजाजत नहीं दी जाती। पेंच राष्ट्रीय उद्यान में एक याचिका के अधीन तोतलादेह सरोवर में मछली पकड़ने पर स्थगन प्राप्त कर लिया गया है जबकि संरक्षणवादियों ने यह दलील तो ठीक ही दी थी कि गैरकानूनी मत्स्य आखेट से लाभान्वित वास्तव में व्यापारी वर्ग हो रहा था। लेकिन वे इस तथ्य को शायद नजरंदाज कर गए कि इस स्थगन से हजारों मछुआरे परिवार बेरोजगार हो गए। इस पेंच-याचिका के फैसले में भी दिल्ली के प्रदूषणकारी-उद्योगों और 'रिज फॉरेस्ट' की तरह ही इस प्रकार की पर्यावरण कार्रवाइयों से पीड़ित लोगों को कोई राहत नहीं दिलवाई जा सकी है।

सवाल इन कार्रवाइयों की नौबत लाने वाले पर्यावरणवादियों की नीयत पर शक करने का नहीं है, क्योंकि वे यह सब लाचार होकर तात्कालिक नतीजे हासिल करने के उद्देश्य से ही कर रहे हैं, लेकिन इन कार्रवाइयों में कुछ बहुत बड़ी-बड़ी खामियां भी हैं। मसलन, पर्यावरण को बचाने के लिए नौकरशाही की कार्रवाईयों पर उन्हें पूरा भरोसा है, जबकि वे अच्छी तरह जानते हैं कि इसके लिए सरकार के पास न तो पर्याप्त इच्छाशक्ति है, न संसाधन। वे प्राकृतिक रहवासों को 'बियाबान इलाकों' की तरह देखते हैं जबकि ये ज्यादातर ऐसे इलाके हैं जिनके सहारे लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं। वे यह भी सोचते हैं कि इन संरक्षित इलाकों में संसाधनों का हर प्रकार का उपयोग जैव-विविधता को नुकसान पहुंचाने वाला ही होगा जबकि उसी जगह पर्यटन को बढ़ावा देते वक्त उन्हें कोई संकोच नहीं होता और उसे 'इको-पर्यटन' कर कर वे अपनी अंतरात्मा को संतुष्ट कर लेते हैं। सबसे बड़ा धब्बा तो खुद इन्हीं पर इसी वजह से लगता है कि वे इस प्रकार के पर्यटन में हिस्सेदार बन कर ऐसे संसाधनों पर ऐसी मांगें थोपते हैं जो देश की कतिपय सबसे ज्यादा विनाशकारी परियोजनाओं का कारण बनती हैं। दिल्ली में हम 'रिज' को इसलिए बचाना चाहते हैं कि वह नगर के फेफड़े की तरह कार्य करते हुए उस विषाक्त धुएं और प्रदूषण से वातावरण को मुक्त करे जो हम रोजाना अपनी कारों से उत्सर्जित कर रहे हैं। लेकिन इसकी तकलीफ उन गरीबों को झेलनी पड़ रही है जिनके पास न तो कोई कार अब है, न भविष्य में कभी होगी। हम लोग खुद तो आरामदेह कंक्रीट के मकानों में रहना चाहते हैं, लेकिन हमसे उन्हीं गरीबों की घास-फूंस के टप्पर भी बर्दाश्त नहीं होते, जिन्होंने हमारी अट्टालिकाएं बनाई हैं। क्योंकि वे उन इलाकों में हैं जिन्हें उन्होंने अपने मनोरंजन के लिए 'हरित कमरबंद' घोषित करवा लिया है। हमें ऐसे आंख को खटकने वाले उद्योग नहीं चाहिए जिनके द्वारा उत्पादित माल का मजे से उपयोग करते हैं, लेकिन हमें इस बात पर कोई एतराज नहीं होता कि अन्यत्र किसी ग्रामीण इलाके में स्थानांतरित हो यही कारखाने वहां के हवा-पानी को प्रदूषित कर कृषि भूमि से लोगों को जबरन बेदखल कर देंगे।

ये विशिष्ट-वर्गीय पर्यावरणवादी इस कड़वे सच का या सामना ही नहीं करना चाहते या समझ नहीं पा रहे हैं कि विकास के जिस नमूने से वे लाभान्वित होना चाहते हैं वही न केवल दोषपूर्ण है बल्कि कई प्रकार के टकरावों का भी कारण बन रहा है। राजाजी राष्ट्रीय उद्यान में जो समस्याएं खड़ी हुई हैं वे गुज्जरों और रस्सी बटने वालों के कारण उतनी नहीं गंभीर हुई हैं जितनी कि देहरादून, हरिद्वार व ऋषिकेश के अंधाधुंध शहरीकरण, चिल्ला जलविद्युत नहर और विराट औद्योगिक संकुलों के कारण हुई हैं। इन सभी परियोजनाओं ने न केवल वन्य-जीवों बल्कि आसपास की ग्रामीण आबादी के लिए भी समस्याएं खड़ी की हैं। पेंच में भी असली अपराधी तोतलादेह सरोवर में मछली पकड़ने वाले ग्रामीण न होकर, खुद यह सरोवर ही है, जिसे बनाने करने के लिए पहले तो ग्रामवासियों को वहां लाया गया और बाद में निर्माण-कार्य पूरा हो जाने पर उसके सारे लाभ निचले प्रवाह तट पर रहने वाले अमीर किसान उठाने लगे हैं। अब उन मजदूरों को सिंचाई-विभाग ने भगवान भरोसे छोड़ दिया जिनको एक तरफ तो वन-विभाग सता रहा है और दूसरी तरफ वन्य जीव-संरक्षणवादियों द्वारा उन्हें बेघरबार कर दिया गया है।

वैसे, कुछ पर्यावरण-संगठन अवश्य इस बात के लिए सराहना के पात्र हैं कि उन्होंने भारत को पारिस्थितिकी तबाही से बचाने के लिए आंदोलन चलाने के साथ ही साथ उक्त कार्रवाइयों से हुए अन्याय के खिलाफ भी आवाज उठाई है। दिल्ली में कल्पवृक्ष, सृष्टि, वातावरण, डीआरएजी और वर्ल्ड वाईड फंड और नेचर (दिल्ली, हरियाणा) जैसी संस्थाओं ने रिज फॉरेस्ट के ग्रामीण व तंग बस्तियों में रहने वालों के साथ हुई ज्यादती की निंदा करते हुए मांग की है कि पहले कार्रवाई उन 'बड़ी मछलियों' के खिलाफ की जाए जिनका पर्यावरण विनाश में सबसे बड़ा हाथ है। एक अन्य मोर्चे पर कई वन्य-जीवन संरक्षणवादी उन जन आंदोलनों में शरीक हो रहे हैं जो विनाशकारी विकास-परियोजनाओं का विरोध कर रहे हैं। मेधा पाटकर जैसे नेता शेरों को विलुप्त होने से बचाने की अपील पर दस्तखत करने वालों के साथ हो लिए हैं। शहरी संरक्षणवादियों की समझ में अब यह बात आ गई है कि जब भी फैसले की घड़ी आएगी तो आरा मशीनों और रोड-रोलरों के सामने खड़े होने वाले वे खुद न होकर वे ग्रामीणजन होंगे जिनकी आजीविकाएं खतरे में पड़ी हैं, बशर्ते पहले इन आजीविकाओं को उनके लिए सुरक्षित किया जाए। इसीलिए इस बात की मांग उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है कि वन व वन्य-जीवन संरक्षण के काम में स्थानीय समुदायों को भी निर्णय लेने की प्रक्रिया और लाभों के बंटवारे में बराबरी के हिस्सेदारों के रूप में शामिल किया जाए। भूमि और संसाधन अधिकारों का मुद्दा इस मांग के केंद्र में है।

इन सभी पहलों के पीछे महत्वपूर्ण बात यह अहसास है कि हम पर्यावरण को टिकाऊ बगैर सामाजिक न्यायसंगतता के नहीं बना सकते और यह भी कि पर्यावरणवादियों और गरीब जनता को समान शत्रु के रूप में उस व्यापारिक-औद्योगिक अष्टपद को देखना चाहिए जो कि प्रत्येक प्राकृतिक रहवास को कच्चा माल और ग्रामीण समुदाय को सस्ता श्रम-संसाधन बना और निगल जाने पर आमादा है। हम शहरी पर्यावरणवादी जितनी जल्दी अपनी आंखों पर बंधी पट्टी हटा कर चीजों को गरीबों की निगाह से देखना शुरू करेंगे उतने ही अपने लक्ष्यों के करीब पहुंचेंगे। उदारीकरण के इस मौजूदा माहौल में, जबकि सरकारें उत्तरोत्तर पर्यावरण के प्रति अपनी जिम्मेदारियों से कंधे झटकती जा रही हैं, यह मुद्दा और भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है।

(लेखक जाने-माने पर्यावरणविद हैं। इन दिनों पर्यावरण संस्था 'कल्पवृक्ष' से संबद्ध हैं)